(कवित्त)

चोप चाह चावनि चकोर भयौ चाहत हौं
सुषमा प्रकास मुख सुधाधर पूरे को।
कहा कहौं कौन-कौन विधि को बंधनि बंध्यो
सुरझ्यौ न उकस्यौ बनाव लखि जूरे को।
जाही जाही अंग पर्‌यौ ताही गरि गरि सर्‌यौ
हर्‌यौ बल बापुरे अनंग दल चूरे को।
अब बिन देखें जान प्यारे यों अनंदघन
मेरो मन भँवै भटू पात ह्वै बघूरे को ॥३५॥

प्रकरण—प्रिय के पूर्वानुराग के अवसर पर प्रिय के जो दर्शन हुए उन्हें देखकर मन की स्थिति क्या हुई थी और अब वियोग में क्या हो रही है इसी का वर्णन है। प्रिय के अंगों को देखकर उनकी छवि में वह डूबा और काम-

नाओं की चोट से वह आहत हुआ। मुख देखकर तो टकटकी लग गई! जूड़े को देखकर उसमें अनेक प्रकार से बँधा। अब पत्ते की भाँति उड़ता है बवंडर में।

चूँ का—चोप = लालसा। चाह = इच्छा। चाव = उमंग। चाहत हौं = देखते ही। सुषमा = सुषम संस्थान की छटा, प्रत्येक अंग का अन्य अंग के संश्लेष से होनेवाला सौंदर्य। सुधाधर = सुधा को धारण करनेवाला (चंद्रमा); सुधा देनेवाले अधर से युक्त (मुख)। पूरे = पूर्ण; पूर्णिमा का चंद्र। बिधि = प्रकार। बँधनि = बंधन, बंधान। सुकस्यौ = सुष्ठु अर्थात् भली भाँति कस गया (बंधनों से)। न उकस्यौ = उकस न सका, निकल न सका। परयौ = पड़ा, गिरा, देखने में लगा। गरिगरि = गलकर या गड़-गड़कर। सर्यौ = समाप्त हो गया, चुक गया या रह गया। गरि० = गल-गलकर चुक ही गया अथवा गड़ा ही रह गया। बल० = बल हर गया। अनंग = काम की सेना के आक्रमण से चूर-चूर किए गए (मन) का। भँवै = घूमता है। भटू = (बधू) हे सखी। पात = पत्ता। बधूरा = बवंडर। पात ह्वै = बवंडर में पड़े हुए पत्ते की भाँति उड़ा ही रहता है, स्थिर नहीं हो पाता।

भा० —हे प्राणप्रिय सुजान आनंद के घन, संयोग के समय लालसा, इच्छा और उमंग से युक्त होकर आपके पूर्ण मुख सुधाधर के सौंदर्य-प्रकाश को देखते ही मेरा मन चकोर हो गया। वहाँ आपके मुखमंडल में जूड़े का बनाव देखकर न जाने किस-किस प्रकार के विविध बंधनों में यह बँध गया, वे बंधन कसते ही गए, मैं क्या कहूँ उन बंधनों से यह छूट न सका। मुखमंडल की बात ही क्या, यह जिस-जिस अंग के देखने में जा फँसा, वहाँ गड़गड़कर देखता ही रहा, बड़ी कठिनाई से एक अंग के सौंदर्य-दर्शन के अनंतर दूसरे के सौंदर्य-दर्शन में प्रवृत्त हो सका। उन-उन अंगों के देखने में यह बिचारा अनंग की सेना से ऐसा दलित होता रहा कि इसका बल ही हर गया। जब तक आपके सौंदर्य-दर्शन में प्रवृत्त था तब तक तो फिर भी कुछ शांति थी पर अब वियोगावस्था में आपके दर्शनों के बिना कहीं अन्यत्र न जाकर अपने स्थान पर ही वह वैसा चक्कर काट रहा है जैसा बवंडर की वायु में पड़ा हुआ पत्ता चक्कर काटता है। संयोगावस्था में प्रिय के दर्शन से बल क्षीण हो जाने तो वह अत्यन्त हलका हो गया है, उसमें कहीं भी प्रवृत्त होने की शक्ति नहीं रह गई है, इसलिए अंतर्मुख न होकर वहीं का वहीं चक्कर खा रहा है।

किया। अब संहृदयता प्रदर्शित करनेवाला वह हृदय मुझसे कठोर हो गया है, वह सुमुखता विमुखता में परिणत हो गई है। बता तुझे वह कैसे छजती है। यदि तूने स्वयम् आकर्षण न उत्पन्न किया होता तो मुझे इस प्रकार का कष्ट न उठाना पड़ता। जो पहले अनुकूलता दिखाकर इस प्रकार प्रतिकूल हो जाय वह शोभन कार्य नहीं करता। तेरा कार्य नितांत अशोभन है।

व्याख्या—मोहो = मोहित किया अपने अत्यधिक आकर्षण से। मोहित करने में तेरे प्रयत्न ही प्रबल थे। मोह = प्रेम में प्रेमी पड़कर भ्रम, अज्ञान आदि की स्थिति को प्राप्त हुआ करता है इसी से इसे मोह करते हैं। 'मोह' की विशेषता यह होती है कि जिससे कष्ट मिलता है वह यदि रुचता है तो उस कष्ट का कुछ भी ध्यान न देकर उसमें प्रवृत्ति होती रहती है। तुलसीदास ने मोह की यह स्थिति यों स्पष्ट की है—

सोई सेंवर तेइ सुवा सेवत सदा वसंत।
तुलसी महिमा मोह की सुनत सराहत संत॥

सेंवर के लाल फल को कोई मीठा फल समझकर सुग्गा चोंच मारता है, पर उसमें से रुई के रेशे निकलकर उसकी आँख में पड़ते हैं, वह कुछ समय के लिए अंधा तक हो जाता है, पर फिर वसंत आता है और वह सुग्गा सेंवर के निकट फिर जाता है। यही मोह का महत्व है। संत इसकी प्रशंसा करते हैं। भगवान् के चरणों में ऐसा ही अनुराग होना चाहिए—कष्ट होने पर भी उसे नहीं छोड़ना चाहिए।

जनाय कै = मैं जानती नहीं थी मुझे जनाया। अहे = क्रूरता की व्यंजना के लिए जोर है, 'हे' से 'अहे' है। अमोहो = निर्दयता से युक्त, मोह से सर्वथा रहित। तो क्या मोह केवल दिखाने भर को था। जोहि = देखकर, जिस देखने में सातत्य हो उसे 'जोहना' कहते हैं। केवल एक बार देखता तो भी भ्रम न होता, बारंबार तूने देखा, कहीं से यह पता न चला कि तू इस प्रकार का व्यवहार करेगा। सो = जिसमें उतना मोह था, जो मुझपर उतना अनुकूल था, जिसमें उतनी कोमलता थी कि आपसे आप मुझपर द्रवीभूत हुआ। मोही सो = मुझ ऐसे दीन से जिसने इसका कभी विचार ही नहीं किया कि मोह प्रकट करनेवाले में विपरीत भाव भी हो सकता है। निष्कपटता की व्यंजना की जा रही है। कठिन = मुझमें प्रेम की कोमलता है उसमें यह

कठिनता कैसे मिल सकेगी। क्यौं करि = कोई ऐसा बहाना या हेतु नहीं हो सकता जो इसका समर्थन कर सके। सोही० = तुझे जो स्वयम् शोभामय है, सुन्दर है, उसमें यह अशोभन व्यापार, शिव-शिव !

अलंकार—इसमें यमक का चमत्कार दो स्थानों पर स्पष्ट है, 'मोही' और 'सोही' में। यमक के चमत्कार के फेर में प्रायः उक्तियाँ बिगड़ जाती हैं, अनुभूति की व्यंजना ठीक से नहीं हो पाती; पर यहाँ 'यमक' से भी बाधा नहीं पड़ी है।

(कवित्त)

बिष लै बिसारयौ तन, कै बिसासी आपचारयौ
जान्यौ हुतौ मन तैं सनेह कछु खेल सो।
अब ताकी ज्वाल मैं पजरिबो रे भलौ भाँति
नीके आहि असह उदेग-दुख सेल सो।
गए उड़ि तुरत पखेरू लौं सकल सुख
परयौ आय औचक बियोग बैरी डेल सो।
रुचि ही के राजा जान प्यारे यौं अनंदघन
होत कहा हेरें रंक मानि लीनौ मेल सो ॥३७॥

प्रकरण—मन को प्रेमिका की डाँट फटकार है। विरह में जो कष्ट भोगना पड़ता है उसको बिना जाने ही मन निर्दय प्रिय से प्रेम कर बैठा। अब विरह की ज्वाला में जलना पड़ रहा है, सुख किसी प्रकार नहीं मिलता। प्रिय के देखने मात्र से उसकी अनुकूलता का निश्चय करके दरिद्र मन ने जो कष्ट अर्जित किया है वह भली भाँति भोगे। जैसी करनी वैसी भरनी।

चूर्णिका—बिष = निर्दय से प्रेम करने से मिला कष्ट। बिष० = विरह का विष प्राप्त करके तन की सुधबुध भूल बैठे, उसे विषमय कर दिया। बिसारयौ = भूल गए; विषमय कर दिया। बिसासी = विश्वासघाती; विषाशी (विष खानेवाला)। आपचारयौ = मनमानी, स्वेच्छाचार। हुतौ = था। जान्यौ० = हे मन, तुमने प्रेम को क्या कोई खेल समझ रखा था। प्रेम मनोरंजन के लिए नहीं है, उसकी साधना गंभीर है। ताकी = उस (विरह की आग) की। पजरिबो = (प्रकर्ष) जलना, 'प्रज्वल्' से। नीकें आहि = अच्छा है, अच्छा फल (दंड) मिला (व्यंग्य)। उदेग = (उद्वेग)। सेल = भाला। असह० =

असह्य उद्वेग का दुख बरछे के समान कष्ट देनेवाला है। पखेरू = पक्षी। औचक = अचानक। डेल० = ढेले के समान (जिसकी चोट खाकर सुखरूपी पक्षी उड़ गए)। रुचि = (अपनी) इच्छा। रुचि हो० = मनमानी करनेवालों के राजा या शिरोमणि [अथवा रुचि = शोभा। रुचि हो० = सौंदर्य के राजा, अत्यंत सुंदर, शोभाशाली]। होत० = केवल उनके देखने से क्या होता है। रंक = दरिद्र। मेल = प्रेम। मानि० = तुम (उस देखने को ही) प्रेम करना समझ बैठे।

तिलक—हे मन, तुमने प्रेम को क्या खेल (शुद्ध मनोरंजन की वस्तु) समझ लिया था। हे विश्वासघाती, तुमने तो विष लेकर इस शरीर को विस्मरण में (बेहोशी में) डाल दिया, अच्छी मनमानी की तुमने। अब उस विष (विरह) की ज्वाला में भली भाँति खूब जलो, भोगो असह्य उद्वेग का भाले सा कष्टद दुःख। अच्छा ही हुआ, जैसी करनी वैसी पार उतरनी। यह वियोग वैरी वैसे अचानक आया जैसे उन पक्षियों के बीच जो मगन होकर चारा चुग रहे हों कोई ढेला सहसा आ गिरता है। जैसे वे तुरंत उड़ जाते हैं वैसे ही मेरे सब सुख दूर हो गए। हे दरिद्र, वे अपनी इच्छा के राजा हैं, किसी दूसरे की इच्छा का विचार करनेवाले नहीं। तुमने उनके ध्यान से देखने को ही प्रेम समझ लिया और उन पर अपने को निछावर कर दिया। उस देखने में हृदय कहाँ था।

व्याख्या—विष = विष से बेहोशी आती है उसे कोई लेता नहीं। पर मन इतना नासमझ है कि उसने उसे भी ले लिया। बिसारयो = यह भूल गए कि शरीर पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। विष लेते ही तुम स्वयम् होश हवास खो बैठे। विष फैलता है। सो वह तुम तक ही नहीं रहा तन में उसका पूरा प्रभाव पड़ा। तन = सारा शरीर विषमय हो गया, विस्मृत हो गया। बिसासी = विष खाने (विष लेने) वाले मनमानी करते ही हैं किसी की सुनते कहाँ हैं। विश्वासघात शरीर के साथ हुआ। विष लिया तुमने भोगना पड़ा तन को। आपचारयो = अपने मन का आचरण, तुमको समझाया भी औरों ने पर सुनी अनसुनी करके ऐसा किया। किसी की मानते ही नहीं थे। उसका कारण था। जान्यो० = तुमने समझ लिया था कि यह मनोरंजन

के लिए है। मन = मनन करनेवाला, जो मनन करनेवाला हो उसे तो सोचना-समझना चाहिए। तैं = रोषव्यंजक सर्वनाम। जो जानने की वृत्तिवाला हो उसका ऐसा नासमझी का काम। सनेह = स्नेह में चिकनापन होता है, उसकी फिसलन कुछ बच्चों के खेल की फिसलन नहीं। कछू = कोई, साधारण। यह खेल भी है तो असाधारण। खेल = नाटक, अभिनय जिसमें किसी का वेश बनाकर कोई अभिनेता आता है। बनावटी वेश। प्रेम में बनावटी खेलवाला नहीं चलता। अब = इस विष-विरह की स्थिति में। ताकी० = विष में भी ज्वाला होती है, तीखी झार। पजरिबो = अत्यधिक जलना, घर भर में आग लग गई है। मन का मंदिर शरीर ही तो है। रे = तुच्छता-बोधक, घृणा-रोषव्यंजक संबोधन। भली० = इससे बचाव का मार्ग रह नहीं गया, बुरी तरह जलना (विपरीत लक्षणा से)। नीकें० = बुरे फँसे (विपरीत लक्षणा)। असह = जो किसी के सहने के मान का नहीं, तुम क्या सहोगे। उदेग = व्याकुलता, जो भीतर से बाहर कर देती है, अपने स्थान पर स्थित नहीं रहने देती किसी को वह स्थिति। सेल० = भाला या बरछा प्रविष्ट होता है तो घाव करता जाता है। पर जब खींचा जाता है तो उसके साथ शरीर का आस-पास का बहुत सा अंग बाहर आ जाता है। गए० = उड़कर चले गए, अब लौटने की संभावना भी नहीं रही। तुरत = इतनी शीघ्रता से गए कि उन्हें रोकने का उपाय भी नहीं सोच सके। पखेरू = बसेरू नहीं, जो पंखों के ही भरोसे रहनेवाला हो। कहीं टिकनेवाला न हो, रुकनेवाला न हो। सकल० = कोई सुख भी बचा रहता तो कुछ तो कष्ट कम होता। पन्थौ = न जाने कहाँ से आ गया, किसी प्रकार की कोई संभावना न थी। औचक = सहसा, मुझे तो संभावना थी ही नहीं, प्रिय की ओर से भी संभावना नहीं थी। बियोग = वह असंयोग जो अधिक समय तक रहनेवाला हो। बैरी = इसी ने सब सुखों को दूर किया, दुःखों को बुलाया। सदा कष्ट देता रहेगा, इसलिए शत्रु की कल्पना। डेरा = जहाँ आकर गिरा वहीं पड़ा है, हटने का नाम नहीं। रुचि० = इच्छा का शासन अपने ही अधिकार में रखते हैं। सौंदर्य के ही राजा हैं, सुन्दर हैं सहृदय नहीं। स्वार्थी हैं, परार्थी नहीं। हेरें = उनका ध्यान से देखना स्वभाव ही है, कुछ अपनी सहृदयता का प्रदर्शन नहीं। रंक = तुम ऐसे दरिद्र थे कि उनके देखने में हृदयदान समझ लिया। तुम्हें कोई देखनेवाला

मिला नहीं था, जो ही मिल गया उसी को दानवीर समझ बैठे। मानि० = अपनी ओर से अनुमान कर लिया, वह तुम्हारा ही भ्रम था। मेल = अनुकूलता मिलने की स्थिति, दरिद्र ने समझा कि अब मिला, तब मिला, पर मिला कुछ नहीं, अपना भी छिन गया।

पाठान्तर—बिसारयो-बिसाह्यो (खरीदा)। तन = तब (संयोग के समय, अनुराग करते समय)। बिप लै बिसाह्यो-विष ही खरीद लिया। आपचारयो-आपचाह्यो (अपना चाहा, मनचाहा)। आहि-सहि (सहो, सहन करो)।

सूझै नहीं सुरझ उरझि नेह-गुरझनि
मुरझि मुरझि निसदिन डाँवाँडोल है।
आह को न थाह दैया कठिन भयो निबाह
चाह के प्रवाह घेरयो दारुन कलोल है।
वे तो जान प्यारे निरधक हैं अनंदघन
तिनकी धौं गूढ़ गति मूढ़मति को लहै।
आगें न विचारयो अब पाछे पछिताएँ कहा
मान मेरे जियरा बनी को कैसो मोल है ॥३८॥

प्रकरण—मन को डाँट-फटकार। मन ने पहले तो विचार नहीं किया अब पछता रहा है, इस पर प्रेमी उसे डाँटता है। ऐसे फँसे हो कि निकलते नहीं, ऐसी धारा में पड़े हो कि डूबने की नौबत। प्रिय इतने पर भी नहीं देखता है। जैसा व्यापार किया वैसा लाभ उठाइए।

चूर्णिका—सुरझ = सुलझाव, सुलझने का उपाय (उलझन से) उरझि० = प्रेम की उलझन में पड़ जाने पर। गुरझनि = गाँठ। मुरझि = बेहोश होकर, शिथिल होकर। डाँवाँडोल = अस्थिर, चंचल। आह० = आह की गहराई को तो थाह नहीं मिलती, बहुत गहरी साँसें भरनी पड़ती हैं अथवा इस नदी को गहराई की थाह अपने आह (थहाने के मान) की नहीं है। दैया = दैव। कठिन० = निर्वाह कर ले जाना कठिन जान पड़ता है। चाह = प्रेम। कलोल = उछाल, तरंग। चाह के० = प्रेम के प्रवाह में उसके दारुण कल्लोल ने घेर लिया है, प्रेम की उत्ताल तरंगों में पड़ी हूँ। निधरक = निश्शंक, बेखटके। गूढ़ गति = रहस्य-भरी चाल, उनका भेदभाव।

मूढ़मति = मंदबुद्धि। तिनकी० = उनकी रहस्यगति का पता मुझ जैसे साधारण या मंदबुद्धिवाले को नहीं चल सकता। आगे = पहले (प्रेम करने के अवसर पर)। मान = समझ। जियरा = जी, मन। बनी = वणिक् या वाणिज्य। मान=हे मन, अब समझो कि इस वाणिज्य में कैसा मूल्य चुकाना पड़ा। सब कुछ देने पर भी सौदा नहीं हो सका (बनी को कैसो मोल है—मुहावरा)।

तिलक—हे मेरे जी, तुमने पहले (पूर्वानुराग के समय) कुछ भी सोच-विचार नहीं किया कि किससे प्रेम कर रहे हैं, अब (वियोगावस्था में) पश्चात्ताप करने से क्या लाभ। जैसा व्यापार किया वैसा लाभ उठाया। समझो कि इस व्यापार में कैसे लेने के देने पड़े। सब कुछ दे देने पर भी प्रिय के मन को प्राप्त न हो सकी। उबर चिंताओं, दुःखों आदि से व्याकुलता ही हाथ लगी। प्रेम की गुत्थियाँ उलझकर ऐसी पड़ी हैं कि उनके सुलझने का कोई उपाय ही नहीं दिखाई पड़ रहा है। उनके सुलझने में आयास इतना अधिक पड़ रहा है कि बारंबार मुरझा जाते हो, बेहोश हो जाते हो। डाँवाँडोल की यह स्थिति रातदिन बनी रहती है, कभी चैन नहीं। चाह की नदी के इस प्रवाह में तुम्हें दारुण कल्लोलों ने घेर लिया है पार पाना कठिन हो गया, गहराव की थाह भी तुम्हारे मान की नहीं है। हे दैव, क्या होगा। तुम्हारी तो यह स्थिति है और वे सुजान प्रिय इतने पर भी बेखटके आनंद की वृष्टि करके स्वयम् ही उसका आनंद लूट रहे हैं। उनकी इस भेदभाव की रहस्यात्मक स्थिति का अंदाज साधारण बुद्धि वाला भला कैसे लगा सकता है।

व्याख्या—सूझै० = सुलझाव सूझता ही नहीं, सुलझने की नौबत तो अभी और भी दूर है। पहले दिखाई दे, उसके लिए उपाय हो, फिर उसमें सफलता मिले तब वह सुलझे। सुरझ = उलझनें इतनी अधिक हैं और ऐसी उलझी हैं कि सुरझ का पता ही नहीं चलता, कहाँ से कैसे सुलझाएँ इसका अंदाज नहीं मिलता। उरझि = उलझकर एक में दूसरी, दूसरी में तीसरी, न जाने कितनी गुलझें पड़ती चली गई हैं। 'गुरझनि' स्त्रीलिंग है अर्थात् नारी में अपेक्षाकृत गुलझन अधिक होती है, गूढ़ता विशेष रहती है। मुरझि० = एक ही बार मूरझना नहीं होता, कई बार होता है, अनेकत्व की व्यंजना। निसदिन = सातत्य की व्यंजना। डाँवाँडोल = नाव जैसे लहरों में इधर-उधर ऊपर-नीचे होती

है उसी प्रकार की स्थिति तेरी हो रही है। आह० = गहराई इतनी अधिक कि बड़े-बड़े मरजिया भी डुब्बी मारने में घबराते हैं। देया = विवशता, दैन्य की व्यंजना। कठिन० = पार पाना ही कठिन है, डूबने में तो संदेह रह ही नहीं गया है, बहुत उपाय-प्रयास करने पर भी इससे निकला नहीं जा सकता। चाह० = चाह (इच्छा) का 'वाह' नहीं 'प्रवाह' है, अनेक कामनाएँ बहाए लिए जा रही हैं। घेरचौ० = उनकी लहरें साधारण नहीं हैं, बहुत ऊँची हैं चारो ओर से घिराव है। एक ओर से भी घिराव न होता तो निकलने का मार्ग मिल जाता। दारुन० = भीषण लहरें न होतीं तो भी निबाह की संभावना कुछ होती। कल्लोल = निरंतर, बिना रुके उठनेवाली तरंगें, जिनमें स्थिरता है ही नहीं। वे तौ = असहृदय, निर्दय। निधरक = उनमें 'धरक' नहीं यहाँ 'धड़क' अत्यधिक, उनके हृदय में संवेदना ही नहीं, यहाँ वेदनाओं का ताँता। अनदघन = अपने में आत्माराम में लीन, दूसरे से कोई प्रयोजन नहीं। वे जान, सुजान, ज्ञानी, ज्ञान को साधनावाले हैं। बुद्धिवादी हैं, भाववादी नहीं। इसी से उनमें रहस्यात्मक स्थिति है। तिनकी० = उनकी न जाने कैसी गूढ़ चाल है, भावापन्न भला उसे क्या समझे। मूढ़मति = मंदबुद्धि नहीं अमंदबुद्धि के समझने योग्य है उनकी गूढ़ स्थिति। प्रेमी की मति मंद होती है, हृदय अमंद रहता है। आगे० = प्रेम का आरंभ करने के पूर्व ही, उस समय तो भावुकता फिर भी कुछ कम रही होगी, विचार करने की स्थिति में उस समय थे। अब = जब भाव में डूब गए, विरह के कष्ट में मर रहे हो। पाछे = कोई कार्य सहसा करके पीछे पछताना बुद्धिमानी नहीं—

सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं।
सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥

रहा = पश्चात्ताप भी व्यर्थ है। मान = केवल यह गुनावन करते रहो कि इसमें भारी मूल्य चुकाना पड़ा, उसके लिए चिंता मत करो, केवल ध्यान में रखो कि ऐसा हुआ। शाखा-प्रशाखा में विस्तार मत करो।

अंतर उदेग दाह आँखिन प्रवाह-आँसू
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोइबो न जागिबो हो हँसिबो न रोइबो हू
खोय-खोय आप ही में चेटक-लहनि है।

जान प्यारे प्राननि वसत पै अनंदघन
बिरह विषम दसा मूक लौं कहनि है।
जीवन मरन जीव मीच बिना बन्यो आय
हाय कौन बिधि रची नेही की रहनि है ॥३९॥

प्रकरण—विरह की स्थिति की विलक्षणता का उल्लेख। विरोधी स्थितियों का न्यास। दाह भी आंसू भी, भींगना भी जलना भी। सोना-जागना, हँसना-रोना, खोना-शून्य पाना। बिना प्राण के जीना, बिना मृत्यु के मरना। अनिर्वचनीय है यह दशा। मूक की भांति कथन है। सर्वत्र विरोध।

चूर्णिका—अंतर = अंतःकरण, मन। उदेग दाह = उद्वेग की जलन। प्रवाह० = आंसू का प्रवाह (उलटा समास)। अटपटो = विलक्षण। भीजनि० = आंसू से भींगना और ताप से जलना दोनो एक साथ। खोय० = अपने आपमें खोकर, अपने आपमें लीन होते जाकर। चेटक = जादू, भ्रम। लहनि = लाभ। चेटक० = जादू का-सा लाभ है, जादू करनेवाले जैसे नकली रुपए-पैसे दिखाते हैं, पर वह केवल दृष्टिभ्रम होता है, वैसे ही मैं अपने आपमें खोकर केवल भ्रम ही प्राप्त करता हूँ। [अथवा—चेटक० = क्रीत दास। चेटक० = क्रीत दास का-सा लाभ है। अपने को खोकर दासता का लाभ होता है, अपनी सुध-बुध खोकर उनकी दासता पाता हूँ]। पै = फिर भी, इतने पर भी। जान० = ऐसी दशा होने पर भी प्रिय प्राणों में बसे हुए हैं। मूक० = गूंगे का-सा कहना है, जैसे कहा वैसे न कहा अर्थात् विरह की विषम दशा पूर्णतया व्यक्त की ही नहीं जा सकती। जीवन०=इसमें प्राण के बिना ही जीना और मृत्यु के बिना ही मरण आ बना है। हाय० = न जाने प्रेमी के रहने का ढंग कैसा विलक्षण बनाया गया है (जिसमें बिना प्राण के जीना पड़ता है और बिना मृत्यु के मरना पड़ता है)।

तिलक—न जाने प्रेमी के रहने का ढंग कैसा बनाया गया है। अंतःकरण में तो उद्वेग का दाह होता रहता है और बाहर आंखों में आंसू का प्रवाह प्रवाहित रहता है। यह चाह ऐसी विलक्षण दिखती है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। उद्वेग के ताप से जलते भी रहते हैं और आंसुओं से भींगते भी रहते हैं। न सोना ही ठीक-ठीक बन पड़ता है न जागते ही बनता है, न हँसना ही

बनता है न रो ही पाते हैं। अपने अंतःकरण में ही अपने को निरंतर खोते रहते हैं, उसी में लीन होते रहते हैं और प्राप्ति होती है केवल भ्रम की। अथवा खोते तो अपने को हैं और पाते हैं दासत्व। ऐसी स्थिति में भी सुजान आनंद की वृष्टि करनेवाले यहीं कहीं प्राणों में बसे भी हैं और व्यथा को दूर नहीं करते। विरह की यह विषम स्थिति केवल गूँगे का कहना है, कुछ भी कह ही नहीं पाते हैं कि क्या कष्ट हो रहा है। जीते हैं अर्थात् प्राणों की सत्ता है, जिसका प्रमाण है कि साँस ले रहे हैं, पर सच मानिए जी है नहीं, प्राणों के होने का जो फल होता है वह नहीं दिखाई देता। मृत्यु अभी नहीं आई है, पर मरण हो गया है। मृत्यु में जितनी वेदना सहनी पड़ती है वह सह चुके। न जाने किस ब्रह्मा ने प्रेमी विरहियों का निर्माण किया।

व्याख्या—अंतर = इसका अर्थ अंतःकरण और भीतरी दोनों हैं। अंतःकरण में भी आग सुलग रही है। भीतर ही है, बाहर दिखाई नहीं देती। उदेग = (उद्वेग) वेदना के बाहर होने की इच्छा तो होती है, पर वह बाहर नहीं हो पाती। दाह = पुंलिग है, इसके द्वारा उसकी प्रचंडता व्यंजित है। आँखिन = दोनों नेत्रों में एकतार आँसुओं का प्रवाह है। प्रबाह = आँसू की अधिकता के लिए 'प्र + बाह' है। देखौ० = देखने के अतिरिक्त और कुछ कर भी तो नहीं सकते। अटपटी = चित-पट दोनों की एक साथ स्थिति की भाँति विरोधी वृत्ति वाली। चाह = इच्छा तो होती है, देखना भी होता है। यह प्रेम दर्शनजन्य है। कैसा विलक्षण प्रिय का दर्शन मिला, यह देखना कितना अट-पट दिखता है। भीजनि० = तुकांत के अनुरोध से दहनि पीछे रखा है अन्यथा दहनि भीजनि में क्रम ठीक रहता, उदेग-दाह से 'दहनि' और 'आँसू' से 'भीजनि'। सोइबो = यहाँ क्रम ठीक है। अंतर से सोने का संबंध है, जागने का आँखों से संबंध है। ऐसे ही हँसने का संबंध अंतर या मन से और रोने का आँखों से है। प्रसाद ने भी मन और आँख से सुख-दुःख का संबंध जोड़ा है—

मानवजीवन वेदी पर परिणय है विरह मिलन का।
सुख दुख दोनों नाचेंगे है खेल आँख का मन का॥

सोना तो इसलिए नहीं बनता कि निद्रा नहीं आती, मन उद्वेग-दाह के कारण सोने की ओर प्रवृत्त नहीं होता और जागते इसलिए नहीं बनता कि

आँसू का प्रवाह आँखों को व्यर्थ किए रहता है। जैसे जागते रहे वैसे न जागते रहे। सोते हैं तो आँखें ढके पड़े हैं। हँसिबो० = प्रेम का आनंद प्राप्त करने का हर्ष हँसी का हेतु हो सकता है। पर हर्ष का धारण-कर्ता मन ही ठीक नहीं। रोना तो तब होता है जब हर्ष हो तो प्रतिपक्ष में रोदन हो। यहाँ निरंतर रो ही रहे हैं। सारा रोना आँखों के प्रवाह में समा गया है। रोना भी निष्फल है, विफल है, कोई परिणाम निकलनेवाला नहीं है। रोना जब अभ्यास हो गया तो उसका पृथक् अस्तित्व समाप्त हो गया। खोय० = बार-बार अपने को खोते रहते हैं। अपना खोना भी भ्रम और पाना भी भ्रम। खोया अपने को, अपना स्वामित्व खोया और पाया दासत्व। आपही० = अन्यत्र खोने का स्थान ही नहीं है, इससे अपने में ही खोए जा रहे हैं। प्रिय के संमुख होने पर उसमें लीन होते, विरह में अपने में ही लीन होते हैं। संयोगवृत्ति बहिर्मुखी वृत्ति होती है और वियोगवृत्ति अंतर्मुखी वृत्ति होती है। चेटक० = भ्रम की प्राप्ति है, मिथ्या का पाना है, पाना न पाना समान है। 'चेटक' का अर्थ 'क्रीत दास' लेने से ऐसे दासत्व की प्राप्ति जो कभी छूटनेवाला न हो। सदा के लिए दास हो गए। हानि हुई स्वच्छंदता की और लाभ हुआ आजीवन परतंत्रता का। जान० = सुजान प्रिय, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म। प्रानिन० = प्राणों में ही बसे हैं, अन्यत्र गए कहाँ हैं। प्राणों में रहने पर भी मेरी ओर ध्यान नहीं देते ऐसी निर्दयता, मेरे हृदय पर अधिकार भी कर रखा है, फिर भी मुझमें ऐसी विरह-वेदना को जानते-समझते कुछ नहीं करते। पै = निश्चय, वैदिक 'वै' का विकास। आनंदघन = हृदय में बसे प्रिय स्वयम् वेदनात्मक नहीं हैं आनंदात्मक हैं फिर भी इतनी वेदना, ऐसा कष्ट सहना पड़ता है। बिरह० = वियोग की मेरी दशा इसी से विषम है। मेरी प्रिय के प्रति वह आस्था और प्रिय की मेरे प्रति वह अनास्था। मूक० = गूँगा पहले तो कुछ कह ही नहीं पाता, कुछ कहे भी तो दूसरे उसे समझते नहीं। इसलिए उभय पक्ष के लिए उसका कहना न कहना समान है, जीवन० = जी भी रहे हैं और मर भी रहे हैं। 'जीना' केवल सत्तात्मक है, उस जीने से किसी प्रकार के प्रयोजन की सिद्धि होने की संभावना भी नहीं। इसलिए जीना न जीना समान है। मरन = भीषण कष्ट का अनुभव, मरण के समय के अति कष्ट का अनुभव। जीते रहते किसी कष्ट का अनुभव न करते या

अल्प कष्ट का अनुभव करते होते तो भी कोई बात थी। जीव० = प्राणों का होना न होना समान। प्राण हैं नहीं, मारे कष्ट के अब गए तब गए की स्थिति है। मीच० = मृत्यु आई नहीं, न जाने कितने दिनों तक यह कष्ट इसी प्रकार भोगना पड़ेगा। बन्यौ आय = बन गया है, मिटने का नाम नहीं, यह स्थिति शीघ्र बदले इसकी संभावना नहीं है। लोग इसे 'बनना' कहते हैं जबकि इसे 'बिगड़ना' कहना चाहिए। हाय० = अत्यंत वेदनाव्यंजक। कौन० = ब्रह्मा ने किस प्रकार बनाया यह भी अचरज है, दूसरा ऐसा उदाहरण ब्रह्मा की सृष्टि में भी मिलनेवाला नहीं। रचि = रच-रचकर बनाया, कोई कोर-कसर बनाने में भी नहीं रखी। नेही = प्रेमी विरही, विरह में प्रेम के बढ़ते रहने से ऐसी कष्टदायिनी स्थिति है। नेह-चिकनाहट से कोई वस्तु अधिक स्थिर रहती है इसलिए 'नेही' शब्द प्रयुक्त है। रहनि = ऐसे ही निरंतर जीवन-यापन करना है। हर समय ऐसे ही रहना है।